1940 Repercussions of the dispute continue for several decades

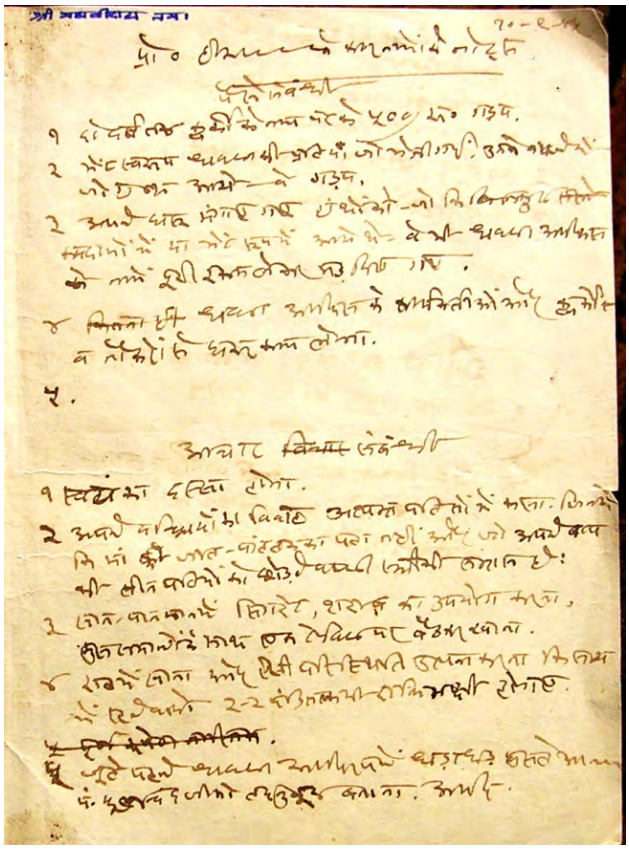

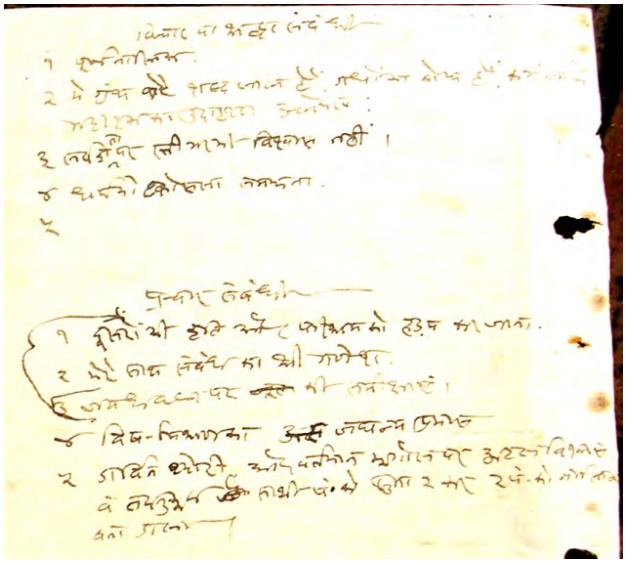

मैं पागल कैसे हुआ ?

इस पेपर-कन्ट्रोल के समयमें यह अनुचित होगा, कि मैं प्रारम्भसे अपना रोना रोऊं। इसलिए इतना ही लिखना पर्याप्त होगा, कि जिन्हें मेरे जीवनका पूर्वार्ध जानना हो, उन्हें आजसे लगभग १० वर्ष पूर्व लिखी गई और 'दिगम्बर जैन' के 'कहानी-अंक' में प्रकाशित 'मैं कोल्हूका बैल कैसे बना' शीर्षक कहानी को पढ़नेका कष्ट उठाना होगा।

मनुष्य पागल क्यों होता है? इस प्रश्नका उत्तर सीधा, सत्य और सरल यह है कि जब मनुष्यकी मनोवृत्ति अपने अभीष्ट लक्ष्यकी प्राप्तिकी ओर दौड़ना चाहती है, किन्तु उसकी परिस्थितियां उसके मार्गमें बाधक होती हैं, तब सर्व प्रथम मनुष्यमें झुंझलाहट और बेचैनी उत्पन्न होती है। फिर भी अपनी मानसिक प्रवृत्तियोंके दबावके कारण वह व्यक्ति उन परिस्थितियोंसे संघर्ष करता है, बाधक कारणोंको दूर करनेका प्रयत्न करता है और अपने लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिए अग्रेसर होता है। परन्तु जब एकसे बढ़कर एक संघर्षोंसे उसका सामना होता है, और मोर्चा लेते लेते वह अपने लक्ष्य-प्राप्तिमें सफलताके बजाय असफलताको खड़ा सामने पाता है, तूफानके समय समुद्रमें उठती हुई एक पर एक बड़ी बड़ी तरंगोंके समान अपनी मनोवृत्तियोंको शान्त करनेमें अपने आपको असमर्थ पाता है, तब पागल हो जाता है। तूफानके समय समुद्र जैसे भयंकर शब्द करता है और अपनी गोदमें विहार करनेवाले पोतों और नावोंको नष्ट-भ्रष्ट करने लगता है, ठीक वही दशा पागल व्यक्ति की हो जाती है, और यही इस प्रश्नका उत्तर है।

× × × × ×

सन् १९२३ के दिसम्बर की बात है, न्यायतीर्थ व शास्त्री परीक्षा पास करनेके बाद मैं जबलपुर शिक्षा-मन्दिरमें धर्मशास्त्रके उच्च ग्रन्थोंका अध्ययन और अंग्रेजी मित्रोंको धर्मशास्त्रका अध्यापन करा रहा था। एक दिन प्रातःकाल ५ बजे स्वप्न देखता हूं 'कि सामने श्री धवल जयधवल सिद्धान्त ग्रन्थ विराजमान हैं और मैं उनका स्वाध्याय कर रहा हूं'। इतनेमें ही बोर्डिंगकी घंटी बज उठी, मैं चौंक कर उठा और प्रार्थनामें इस तरह जा खड़ा हुआ — मानों किसी राज-सिंहासनसे पद-च्युत कर दिया गया हूं। प्रार्थनाकी समाप्तिपर 'जय' बोली नहीं, मैं अपने कमरेमें पहुंचा और साथियोंको अपना स्वप्न सुनाना ही चाहता था कि उनमें से एक बोल उठा — 'शास्त्रीजी, कमरा झाड़िए, आज आपकी बारी है'। मैंने उन्हें बिना स्वप्न सुनाये ही झाड़ू उठाकर अपना कार्य प्रारंभ किया, पर हृदय ठीक ऐसा ही अनुभव कर रहा था — जैसा कि किसी पद-च्युत नरेशको भंगीका काम दिये जानेपर हो सकता है। कमरेको सब तरफसे झाड़कर मैं अपने पलंगके नीचेका भाग झाड़ रहा था,

कि श्रीजी सोनाके जिनके और पत्थर जड़े हुए थे ~~चम~~ चमकते नजर आते। उनका बिजलीके प्रकाशमें जो देखा, तो ऐसा अनुभव हुआ कि - जैसे दरिद्रको कोई बड़ी निधि मिलनेपर हो सकता है। उन्होंने एक पर लिखा था कि 'जयधवल सिद्धान्त जीके मंगल श्लोक' और दूसरे पर लिखा था कि 'धवल सिद्धान्तके मंगलाचरण श्लोक'। मैंने अपनेको धन्य माना, उनकी वंदना की, पढ़ा, हृदयसे लगाया और सुरक्षित रख दिया। जो कि आजतक भी मेरे पास सुरक्षित हैं। × × ×

इसके लगभग १० महीने बादकी बात है जब मैं बनारस विद्यालयमें धर्माध्यापक था। कार्तिक कृष्णा एकमके प्रातःकाल स्वप्न आया कि मैं उक्त सिद्धान्त ग्रन्थोंका पुनः स्वाध्याय कर रहा हूं। इतनेमें विद्यालयकी घंटी बज उठी, मैं जाग गया और हृदयमें आसमान-मंथन होने लगा - कि आखिर बात क्या है? पेटी खोली, उन्हीं सुरक्षित रखे दोनों पन्नोंकी वन्दना की, और एक बार पढ़कर जहांका तहां रख दिया।

अकस्मात् दिनको सहारनपुरसे बा० सुमतिप्रसादजीका तार मिला —

'पं० हीरालालजीको ~~स्थानक~~ स्थानीय उत्सवमें शास्त्र-प्रवचनके लिए भेजो'। मैं तीसरे दिन रातको सहारनपुर पहुंचा. ~~देखा कि यहां~~ लाला जम्बूप्रसादजीकी कोठी पर ठहराया गया। प्रातःकाल ज्यों ही मन्दिरजीमें देवदर्शनार्थ गया कि ~~[illegible]~~ सामने ही एक विद्वान्को शास्त्र-लिखते हुए देखा. मैं ~~भी~~ उत्सुकतासे पास बैठकर देखने लगा, पूछनेपर विदित हुआ कि 'ये श्री धवल सिद्धान्त ग्रन्थराज हैं, नागरीमें प्रतिलिपि हो रही है'। सुनकर मुझे जो आनन्द हुआ - वह अनिर्वचनीय है। तत्क्षण तीन दिन पूर्वका बनारसमें आया स्वप्न याद आया, अपनेको धन्य माना और ~~[illegible]~~ जितने दिन वहां रहा - स्वाध्याय के बहाने पन्ने उलटता रहा। आते समय यह भावना करके लौटा - कि जीवनमें इनका एक बार अवश्य ही स्वाध्याय करूंगा।

× × × × × ×

इसके ठीक ~~आठ~~ सात वर्षोंके बादकी बात है - मैं मा० दि० जैन महाविद्यालय ब्यावरमें धर्माध्यापक था. पुनः स्वप्नमें कोई कह रहा है ~~उठ~~ 'कि तुम्हारे गांवके पास ही उक्त सिद्धान्त ग्रन्थ विराजमान हैं, जाओ और स्वाध्याय की लगन सफल करो।' जागने पर अपने देशके ग्रामोंकी ओर नजर दौड़ाई, पर कहीं किसी भंडारमें उनके होने की संभावना न दिखी। पर अन्तरंगसे आवाज आई, कि यह स्वप्न निरर्थक न होगा, किसी न किसी अज्ञात रहस्यका परिचायक अवश्य है। मैंने मन ही मन उस संकल्प पर एक सुर और लगाई और प्राकृतके अध्ययन का संकल्प किया। संयोगसे उन्हीं दिनों वहां प्राकृत भाषाके प्रकांड विद्वान पं० बेचरदासजी दोशी अपने दो-तीन कालेजके लड़कोंको साथ लेकर जैन गुरुकुलमें ठहरे हुए थे। मैं उनसे मिला,

× × × × ×

× × × × ×

× × × × ×

उक्त लेख क्यों लिखा गया? इस प्रश्नका उत्तर और उसके व्यक्तिगत परिस्थितियाँ ही मेरे मानसपटका मूल कारण हैं। बात यह हुई — कि प्रो० सा० के साथ काम करते हुए उनकी सैद्धान्तिक अयोग्यताओं ~~को अनुभव~~ लब्धिसार ~~अनु~~ आगमका तो पता चला ही, साथ ही प्राकृत भाषानभिज्ञता और सिद्धान्तग्रन्थोंके मूल पाठ संशोधनाक्षमता तकका भी अनुभव हुआ और वह भी खास कर तिलोयपण्णत्तीके संशोधनके समय। (जब कि दोनों प्रोफेसरों ~~ने~~ प्रो० हीरालाल और प्रो० ए. एन. उपाध्येने लाख सिर मारने पर भी फाइनल प्रूफ तक शुद्ध नहीं होनेवाले मूल पाठोंका कितने ही महत्त्वपूर्ण मैंने संशोधन किया, और वही ~~…~~ पाठ मुद्रित हुआ।)

उक्त कटु एवं विकट अनुभवोंने हृदयको आन्दोलित कर दिया और एक दिन 'उक्त' लेख लिखकर सर्वप्रथम 'अनेकान्त' में प्रकाशनार्थ भेज दिया। पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने प्रो० हीरालालजीको ~~…~~ उक्त लेखकी सूचना दी, ~~और …~~ जिसके अत्यन्त विवश किये जानेके बाद मुझे वह लेख वापिस मंगाना पड़ा - जो ठीक आठ मासमें वापिस आया। इस विवशताका ~~और …~~ दिल व दिमाग पर इतना बुरा असर पड़ा - कि मुझे अनिद्रा रोगने आ घेरा। सैकड़ों प्रयत्न किये जानेपर ~~भी~~ जब कुछ शान्तिकी प्रतीति हुई कि तभी साथ बाबू नेमिप्रसाद जज जो(?) एक दिन बा० कुलवन्तराय (बा० सूरजभान वकील देवबंद के सुपुत्र) और एक अन्य हट्टे-कट्टे धारी अज्ञात कुल-शीलके व्यक्तिके साथ आधीरातमें जूते पहने ही आ धमके और लगे मुझपर अंट-संट बकने। मैंने अत्यन्त शान्तिके साथ उन्हें समझाने और इस अकारण-रोषका कारण ढूंढने का भी तकाजा(?) किया, मगर सब बेकार। (साथ) आधीरातको हो-हल्ला था मैं चोचला(?) उठा और रातभर जिस अशान्तिके समुद्रमें गोता लगाता रहा - वह किसी शत्रुको भी नसीब न हो। ~~…~~ प्रयत्न करने पर भी शान्तिका लेश नसीब नहीं हुआ ~~और अ~~ प्रदीप्त अनिद्राके साथ साथ मूर्च्छा और भी आने लगी। कुछ दिनोंमें केवल गन्ना, मौसम्मी आदिके रस पर ही रहता था, किन्तु शारीरिक और मानसिक अशान्तिने इतना घर दबाया, कि तीन दिन तक कोशिश करने पर भी आंखोंमें किसी कागजके बाद मैं लिख ही नहीं सका और तीसरे दिन ३१ जनवरीको मैं रोजाना भरी जाने वाली डायरीमें यह लिखकर चला आया

कि "तीन दिन पूर्व वैरिस्टर जमनाप्रसादजी सा० के द्वारा असमय में तलोह और त्यक्तवृत्ति पूर्वक (जब कि सभी बात इसके ठीक विपरीत थी और जिसे उस वक्त उपस्थित पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्री और बा० कुलवंतराय जोशी इनकार नहीं कर सकते) दिये गये उलाहने का दिल व दिमाग पर इतना बुरा असर पड़ा कि उस दिन से नींद आना फिर बन्द हो गया है। कोशिश करने पर भी अनिद्रा बढ़ती जा रही है, रात-रात भर नींद न आने से आज कोशिश करने पर भी काम में चित्त नहीं लगा। तबियत पुनः एक बार लम्बे आराम करने को विवश हो गई है, अतः अधिकारी जन मुझे पुनः एक लम्बे समय तक आराम देने की कृपा करें, ताकि मैं अतिशीघ्र स्वस्थ होकर पुनः काम पर लौट सकूं। जब चित्त में शान्ति हो, तब कार्य कर सकूं, एतदर्थ सेतु० की फाइल साथ ले जा रहा हूं। चित्त शीघ्र पूर्ण शान्त बने और काम शीघ्र प्रतिष्ठित हो, इस भावना के साथ आज आफिस से जा रहा हूं।" जब प्रो० सा० ने यह नोट पढ़ा, तो उन्होंने इसकी सूचना जमनाप्रसादजी को दी, और फोन से उन्हें बुलाया। उक्त नोट में उनके प्रति इतने [illegible] शब्द लिखने पर भी उनका पारा आसमान पर चढ़ गया। इधर प्रो० सा० भी भीतर ही भीतर मेरे पर अत्यन्त रुष्ट हो रहे थे - क्योंकि इन्हीं दिनों मैंने यही पहले वाला लेख जैनसंदेश में प्रकाशनार्थ पं० कैलाशचंदजी शास्त्री को बनारस भेजा था, उन्होंने उसे रोककर प्रो० सा० को उसकी सूचना दी थी. - अतः दोनों साहबों ने मिलकर षड्यन्त्र रचा और तय किया कि इन्हें कोई त्रुटि लगाकर संस्पेंड कर दिया जाय, बाद में अन्यायपूर्वक कानूनन नौकरी से पृथक् करना आसान न था। उन्होंने जो व्यवहार किया — वह सर्व विदित है।

मैं उनके प्रतिवाद और सच्ची परिस्थिति को प्रकट करने के लिए पं० देवकीनंदनजी के पास गया - क्योंकि वे हम दोनों के बीच मध्यस्थ थे। उन्होंने अपनी चतुराई की राजनीति से काम लिया और मुझे ठंडा करने के लिए कह दिया कि मैं बहुत शीघ्र आपके प्रतिवाद निकलवाता हूं, आदि।

मेरे साथ जो अन्याय हुआ, वह अक्षम्य है। जैन समाज में सर्वप्रथम सिद्धान्त ग्रन्थों का अनुवाद, संशोधन, व सम्पादन करने वाले का, यह पुरस्कार!!! और आश्चर्य तो यह — कि जैन मित्र और जैन संदेश सच्ची बात को प्रकट करना दूर रहा - आज तक उस लेख को दुबारा [illegible] भी प्रकाशित तक करना भी धर्म नहीं समझते। वाह री जैन समाज, तेरे (सिद्धान्त-सेवकों) !!! पत्रकारों का यह व्यवहार!!

आश्रमवालोंने मेरे प्रो० सा० के बार-बार आग्रह करनेपर (क्योंकि इसके पूर्व वे एक मकान खरीद चुके थे) ही मकान लिया था कि कालेजको छोड़कर रह सकेंगे और मैं भी शान्ति व सुव्यवस्था-पूर्वक सिद्धान्त-सेवा आध्यात्मिक कर सकूंगा. लेकिन उन्होंने कालेज छोड़नेके पूर्व ही उसे छुटकारा लिया। इस अनिश्चितताके कारण हमें एक लम्बी बैठकके बाद अन्ततः पुनः नौकरी पर आना-जाना शुरू किया है, शान्ति नहीं, घर ऐसा-वैसा खाली किया गया कि वह वातावरण विदीर्ण हो गया है और किसी भी कार्यको करनेकी कोई उत्कण्ठा ही नहीं होती। अनेकों सैद्धान्तिक ग्रन्थ अनुवाद व लेख अधूरे पड़े हैं पर उन्हें कम्प्लीट कर देनेकी भी हिम्मत नहीं रही। पुनः अनिद्रा बढ़ने लगी है, इस ख्यालसे कि,

∗ आश्रमवालों से सर्वथा सम्बन्ध तोड़नेपर शायद फिर शान्ति मिले- अभी दिवाली पर जाकर मकान देख भी आया- लौटा नहीं- काफी नुकसान उठाकर। फिर भी शान्ति नहीं। अनिद्रा फिर बढ़ रही है। आज जिस शान्ति और एकाग्रताके साथ सिद्धान्त-सेवा करना चाहता है, वहां कौटुम्बिक झंझटें उससे विपरीत दिशामें खींच रही हैं। मेरी दशा यही बिल्लीवाली- सी होती जा रही है। शिक्षाविभाग प्रोफेसरोंको बड़ी बड़ी तनख्वाहें और रहनेके लिए सुन्दर सुविधा-सम्पन्न बंगले इसीलिए देता है कि वे अपने अध्ययन-अध्यापनका कार्य शान्ति और सुगमतासे कर सकें। मगर- वाह री जैन समाज, तूने इस पर कभी विचार तक नहीं किया। जीते देवताओंकी पूजा छोड़ मुर्दोंकी पूजाका पाठ तो तुझे भगवान महावीरने कभी नहीं पढ़ाया!!! फिर क्यों नहीं अपने समाज और सिद्धान्त-सेवकोंकी ओर ध्यान देती, और क्यों नहीं उन्हें वे सब सुविधाएं देती, जो कि उन्हें अपेक्षित हैं।

मैं महासभाके इस अधिवेशनके समय उपस्थित सभी उसके कर्णधारोंसे (निवेदन सह) कहूंगा - कि पता नहीं, समाजकी उपेक्षासे, इस प्रकारकी लापरवाहीसे - कितने लोग - समाज व धर्मसेवाके कितने अरमान लिए सदाको विदा हो गए होंगे। अब जरा आप लोग, चार दिनकी वाहवाहीमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री न समझ लेवें, और विद्वानोंके साथ प्रेमसे बैठकर किसी ऐसी योजनाको बनावें। जहां मुझ जैसे सिद्धान्तसेवाके लिए लालायित उत्सुक व्यक्तियोंको अपना कर्तव्य-पालन करते हुए कौटुम्बिक फंदोंसे न ग्रस्त होना पड़े- कि 'हा कथा नास्ति तेषां …' का प्रसार. ॥∗

∗ मैं समाजसे अपील करूंगा- कि मेरे साथ किये गये अन्यायकी निष्पक्ष जांच करके लिए एक कमीशन बैठावे. और मेरा हक- जैसे मैंने अपना सर्वस्व समर्पित कर प्राप्त किया था- मुझे वापिस दिलावे. तभी मैं स्वस्थ हो सकता हूं. अन्यथा इस … मेरी अब है।

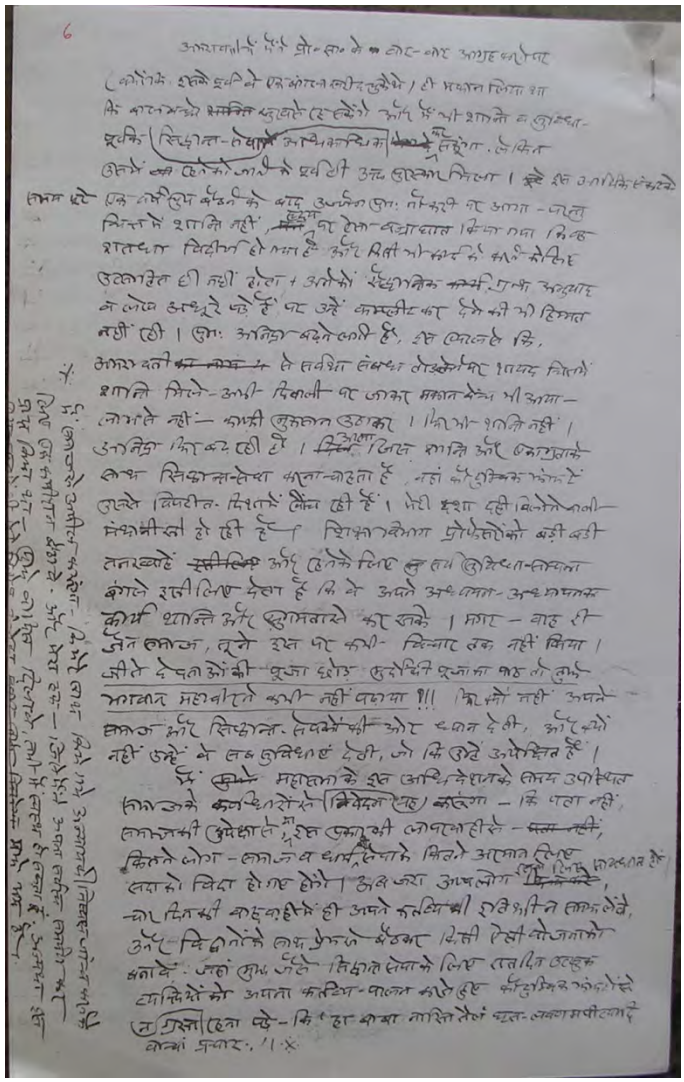

ओफ़, क्या मैं पागल हूं!

[illegible] पागलपन भी एक विलक्षण रोग है जो अनेक वंशगत रोगों की तरह चुनौती (जैसे कि [illegible]) में मिला करता है। [illegible] दिलचस्पी [illegible] किसी तरह के कारण पागल हो गये थे, और मैंने देखा था — जीवन के कुछ आघात-प्रत्याघातों के कारण पागल हो गये थे, कई महीनों पागल रहते, उपचार से अच्छे हो जाते और कभी अच्छे रहते। दो-एक महीने भी उन्हें जरा सा धक्का लगा और महसूस हो ऐसा लगता था कि उन्हें किसी अतीत घटना की याद आ जाती थी, तो वे उसे याद करते ही पागल हो जाया करते थे। उनके [illegible] किसी प्रकार प्रतिशोध की भावना आग धधका करती थी। अपनी [illegible] के साथ ([illegible] के अपने [illegible] जमींदारी के ही बेटे थे) उस प्रतिशोध की आग को बुझा नहीं कर पाये (पर आज भी बाकी), उनके दिवंगत होने के पश्चात् ही उनका प्रबल शत्रु किसी अज्ञात व्यक्ति की गोली का शिकार हुआ, जिसका पुलिस लाख प्रयत्न करने पर भी पता न लगा सकी। और ऐसा लगता है कि यही पागलपन मुझे मेरे व्यक्तित्व में मिला है। और जब देखा जाय, तो [illegible] ही क्या है?

वे जीवन में कई दिन पागल रहे, पर ऐसे पागल नहीं, जैसे हम आप रेलवे स्टेशनों पर घूमते, गली कूचों में पड़ी सड़ी गली चीजें लेते, और हर प्रकार के पागल देखा करते हैं, नहीं, वे बिल्कुल स्वस्थ, [illegible] बातें करते, [illegible], गांव-देहात को [illegible] करते और किसी के झूठे [illegible] प्रतीक भी [illegible] करते पाये गये। कभी [illegible], [illegible] को [illegible] नहीं की। [illegible] किसी [illegible] एक व्यक्ति को, जिसके [illegible] उनके [illegible] में एक [illegible] था, [illegible] वे [illegible] जाना [illegible] नहीं के। [illegible] करते थे।

आज कल [illegible] [illegible] नहीं जीवन में [illegible] किसी को गाली नहीं दी। [illegible] [illegible] के कारण [illegible] [illegible] और [illegible]

ऐसा करने में किसी को आपत्ति नहीं होगी और सरलता इसी में है कि मेरे समान ही प्रोफेसर सा० से सहयोग करेंगे। ऐसी पूर्ण आशा है।

यदि इतने पर भी वे अपना हठ किसी कारणवश न छोड़ें या संयुक्त कार्य न कर सकें, तो मैं बिना किसी पक्षपात के या भय के — पाठकों से स्पष्ट शब्दों में यह निवेदन कर देना आवश्यक समझता हूं कि अग्रिम ग्राहक होने की कोई आवश्यकता नहीं है — चाहे पहिले वे ग्रन्थराजों का प्रकाशन करें — चाहे प्रो० हीरालालजी या मैं। दोनों के सम्पादित ग्रन्थों को सामने आने दीजिए, विद्वानों की समालोचनायें होने दीजिए, मिलान करने दीजिए — इतने के बाद के लोग जिसके सम्पादित ग्रंथ की सिफारिश करें — आप लोग उसे सहर्ष अंगीकार करके अपनी सरस्वती भवन के मंजूषों की शोभा बढ़ाइए। यदि इतना आगा पीछा सोचे बिना आप उतावले होकर किसी प्रकाशक के अग्रिम ग्राहक बनेंगे — तो इतना निश्चित समझिए कि पीछे रुपया व्यय करने पर भी आपके कुछ तत्व हाथ नहीं लगेगा।

मुझे पूरी आशा है कि ग्राहकों के लिए यह संकटमय अवसर नहीं आवेगा और हमारे सरलहृदय श्री० पं० वंशीधरजी सा०, प्रोफेसर हीरालालजी सा० से पत्र-व्यवहार करके अवश्य कोई संयुक्त स्कीम निर्धारित कर लेंगे। जिससे ग्राहकों की गाढ़ी कमाई का दुरुपयोग न होकर सर्व प्रकार से सदुपयोग ही हो और श्री धवल, जय धवल, महा धवल ग्रन्थराजों का पवित्र धवल रूप ही जनता के दृष्टिपथ पर अवतरित हो। जनता जैसी इनके दर्शनों की भूखी है, वैसी ही इसे तृप्ति भी होना चाहिए।

भ्रामक सूचनाओं के विषय में :—

श्री जैन सिद्धान्तभास्कर की पंचम भागान्तर्गत दूसरी किरण में 'भ्रामक सूचनाएं' शीर्षक एक लेख है, जिसके लेखक हैं समाज प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० जुगल किशोर जी मुख्तार, सरसावा। इस लेख द्वारा जो मेरी त्रुटियां बतला कर मुझे सत्-शिक्षायें दी गई हैं, उन्हें इतिहास गुरु के नाते मैं सहर्ष स्वीकार करता हूं और श्री० मुख्तार सा० का आभार मानते हुए उनसे प्रेरणा करता हूं, कि वे, मेरे दोषों को सदैव इसी भांति सूक्ष्मेक्षिका से देखते और प्रकाश में लाते जाते रहें; जिससे उनका 'इतिहासज्ञ' 'यह शिष्य' 'इतिहासज्ञ' बन सके, साथ ही उसकी कृतियां दोषों के चुन लिए जाने से निर्दोषता के समीप पहुंच सकें।

फिर भी, मुझे अपने लेख के बाबत दो-एक बातें अवश्य कहना हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि मैंने वह लेख 'जीवस्थान के सत्प्ररूपणादि अनुयोग द्वारों के सूत्रों का, सर्वार्थसिद्धि के प्रथमाध्यायान्तर्गत सत्संख्यादि' सूत्र की व्याख्या के साथ तुलना करने की गरज से लिखा था; न कि कोई इतिहासज्ञ बन कर किसी आचार्य परम्परा आदि का इतिहास बताने की गरज से लिखा था। और—यह बात मेरे लेख के शीर्षक और उसके तीसरे पैराग्राफ से बिलकुल स्पष्ट है। इतना ही नहीं, किन्तु मुख्तार सा० से, इस लेख लिखे जाने के कुछ दिन पूर्व ही जब मैं उनके निवास स्थान पर मिला था—स्पष्ट कर चुका था। इतना सब कुछ होते हुए भी मुख्तार सा० ने अपना यह लेख ऐतिहासिक-दृष्टिकोण को ही सामने रखकर लिखा है, तो उसको इतना भी मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि—मेरे द्वारा दो-तीन खास-भ्रमपूर्ण सूचनाओं के लिखे जाने का 'श्रेय' भी आपको ही है; क्योंकि आपके प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'स्वामी समन्तभद्र' के अनेक बार पारायण के बाद मैं जिस नतीजे पर एक लम्बे समय के पूर्व ही पहुंच चुका था—उसी संस्कार के कारण, प्रकरण वश वे पंक्तियां लिखी गई हैं। यदि मुझे यह मालूम होता, कि 'मुख्तार सा० प्रामाणिक लेखक नहीं हैं' तो शायद ऐसा न होता। फिर भी नवीन खोज के आधार पर उन्होंने जो तीन बातें मेरी त्रुटियों ~~को~~ दिखलाते हुए बतलायी हैं, उसके लिए मैं उनका आभारी हूं।

आपने अपने लेख में सबसे पहला ऐतराज—मेरे लेख के प्रथम वाक्य पर ही उठाया है, जिसमें कि मैंने वर्तमान में उपलब्ध होने वाले श्रुतज्ञान के सर्व प्रथम लिपिबद्ध कर्ता भ० पुष्पदंत और भूतबलि को बताया है। आपने इसके एक-एक शब्द की खबर ली (समीक्षा की) और यहां तक लिख डाला कि वर्तमान में जितना भी श्रुतज्ञान संसार में उपलब्ध है उसके सर्व

प्रथम लिपि बद्धकर्ता या उद्धारक भ० पुष्पदन्त या भूतबलि नहीं हो सकते' आदि " मुख्तार सा० लिखने के आवेश में रेखांकित दो पदों को अपनी ओर से और भी जोड़कर उनका अपनी मनमाना खींचतान कर दोषारोपण मेरे शिर कर रहे हैं। शायद आपकी दृष्टि में, पाश्चात्यों के द्वारा बतायी जाने वाली दुनियां का ही नाम संसार है? संसार की जो सीमा जैनशास्त्र बताते हैं, उसमें तो श्रुतज्ञान ही क्यों, मन: पर्यय और केवल ज्ञान तक भी विद्यमान हैं। फिर तो जितना भी पद जोड़ना भी व्यर्थ हो जाता है। और आपका यह तर्क भी अनोखा ही है कि 'श्रुतज्ञान' की व्याख्या भी आप की विचित्र सी ही दिखती है, अन्यथा आगे चलकर आप यह तर्क न उठाते कि "यदि श्रुतज्ञान का अभिप्राय जैनागम अथवा जैन वाङ्मय ही लिया जाये" इत्यादि "। मुख्तार सा०, मैं तो श्रुतज्ञान का अर्थ 'मति पूर्वं श्रुतं-द्व्यनेक द्वादश भेदम्' लेता हूं और उसके अनुसार जो कुछ श्रुतज्ञान का धरसेनाचार्य को मिला था उन्होंने ही उसे सर्व प्रथम लिपि बद्ध किया और यह बात मैंने आपके द्वारा लिखे गये 'समन्तभद्र' के पृ० १६० से ही लिखी है। जिसे पाठक गण भी देख लेवें:—

" तत्पश्चात् भूतबलि और पुष्पदन्त ने कर्मप्राभृत को संक्षिप्त करके षट्खंडागम का रूप दिया और उसे उपपुस्तकारूढ किया अर्थात् लिपि बद्ध करा दिया "

यदि मैंने इन शब्दों में कोई अधिक शब्द जोड़ा है तो वह है 'सर्वप्रथम'। और उसका भी कारण आपका ही उल्लेख है, क्योंकि उक्त लिपि बद्ध करा देने की बात कहकर आपने पीछे से लिखा है कि " उधर गुणधर आचार्य ने 'कषाय प्राभृत' अपरनाम 'पेज्ज-प्राभृत' के गाथा सूत्रों की रचना करके उन्हें नाग हस्ति 'और आर्यमंक्षु' नामक मुनियों को पढ़ाया, उनसे यतिवृषभ ने पढ़कर उन गाथा-सूत्रों पर चूर्णि सूत्र रचे और यति वृषभ से उच्चारणाचार्य ने अध्ययन करके चूर्णिसूत्रों पर वृत्तिसूत्र लिखे। इस प्रकार गुणधर, यति-वृषभ और उच्चारणाचार्य के द्वारा कषाय प्राभृत की रचना होकर वह भी उपपुस्तकारूढ हो गया "

इस अवतरण से तो बिलकुल ही स्पष्ट है कि कषाय प्राभृत के लिपिबद्ध होने से बहुत पहले ही 'कर्मप्राभृत' लिपि बद्ध हो चुका था, ~~क्योंकि यतिवृषभ ने अपने चूर्णि सूत्रों में भूतबलि का उल्लेख किया~~ है ग्रंथ सामने न होने से उद्धरण देने से मैं विवश हूँ क्योंकि आप गुणधर और यतिवृषभ के बाद उच्चारणाचार्य का

नामोल्लेख कर पुष्पदन्तकृत होने की बात कर रहे हैं। यहां भूतबलि द्वारा 'कसायपाहुड' के उल्लेख की बात, जिसके कि उद्धरण आपने अपने इस लेख में दिये हैं, सो रचना होना दूसरी बात है और लिपिबद्ध होना दूसरी बात है। किसी आचार्य की रचना का परंपरा से मौखिक रहना कोई नवीन या अनोखी बात नहीं है। स्वयं द्वादशांग श्रुतज्ञान, गौतम स्वामी से लेकर धरसेन या गुणधराचार्य तक मौखिक ही आया था, हालांकि गौतम स्वामी द्वादशांग की रचना कर चुके थे। बल्कि मेरा तो ख्याल है कि बहुत पूर्व समय में आर्यादि गाथाओं में जो भी रचना हुई है वह कंठस्थ रखने के लिए ही हुई है। है कि 'इसका सप्रमाण उल्लेख कभी मैं किसी लेख द्वारा करूंगा।'

'आप लिखते हैं कि 'वर्तमान में उपलब्ध होने वाले श्रुतज्ञान का विषय बहुत विस्तृत है, वह अनेक शाखा-प्रशाखाओं से गहन है, और उस सबका समावेश पुष्पदंत-भूतबलि के सिद्धान्त-ग्रन्थ षट्खंडागम में नहीं हो सकता' आदि।

मुख्तार सा०, मैंने यह कब लिखा कि सर्व उपलब्ध श्रुतज्ञान का समावेश इस सिद्धान्त ग्रन्थ में हो जाता है? मेरा तो सीधा-सादा भाव यह था कि वर्तमान में उपलब्ध होने वाले श्रुतज्ञान में सबसे पहले यह जीवट्ठाण नामक सिद्धान्त ग्रन्थ लिपिबद्ध हुआ है, और शेष श्रुतज्ञान - जिसका कि आप अनेक शाखा-प्रशाखाओं से गहन होने का उल्लेख कर रहे हैं - वह तो पुष्पदंत या भूतबलि के बाद भी बहुत लम्बे समय तक मौखिक या कंठस्थ चलता आया है, और बहुत पीछे जाकर लिपिबद्ध किया गया है। यदि मुझे यह पता होता कि मुख्तार सा० जैसे तत्वदर्शी लोग भी इस जरासी पंक्ति से इतने अधिक भ्रम में पड़ जावेंगे - तो शायद यह स्पष्टीकरण उसी लेख में कर दिया जाता। खैर, फिर भी मुख्तार सा० की तसल्ली हेतु मैं भविष्य में ध्यान में रखूंगा - जिससे उन्हें या किसी को भ्रम न पैदा हो। और मैं तो कहता हूं कि अब भी श्रुतज्ञान का बहुत सा विषय मौखिक चल रहा है, और कहा नहीं जा सकता कि आगे कब तक मौखिक चलेगा और कब लिपिबद्ध होगा। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकला कि भूतबलि या पुष्पदंत द्वारा जो कसायपाहुड का उल्लेख आता है वह मौखिक रचना का हुआ है न कि लिपिबद्ध रचना का। और मेरी मान्यता उस समय तक कायम रहेगी - जब तक कि गुणधराचार्य कृत कसायपाहुड के उनके सामने ही - या भूतबलि और पुष्पदंत के पूर्व में लिपिबद्ध होने का स्पष्ट उल्लेख न मिले या प्रमाण न मिल जाय।

ऐतराज

शायद आपका ~~अभिप्राय~~ 'उद्धारक' शब्द पर ही हो- जो कि 'लिपि बद्ध कर्ता' ~~क~~ इस पद के बाद लिखा गया है, तो मैं उसे सखेद वापिस लेता हूं, फिर तो कोई भ्रम न रहेगा- ऐसी आशा है।

~~दूसरा~~ आपका दूसरा ऐतराज 'धवल सिद्धान्त' इस नाम पर है, पर शायद आप यह भूले जा रहे हैं कि मेरे से बहुत पहले— ठीक १२ वर्ष पूर्व- आपकी ही लेखनी से यह बात लिखी जा चुकी है। देखिए 'समन्तभद्र' के पृ० १७४ का निम्न वाक्य :—

×× भगवज्जिनसेन के गुरु श्री वीरसेनाचार्य ने सिद्धान्त-शास्त्रों को पढ़कर उन पर धवला और जयधवला नाम की टीकायें लिखी थीं, जिन्हें धवल और जयधवल सिद्धान्त भी कहते हैं।

पाठक गण कृपया उनके इस वाक्य को मेरे निम्न वाक्य से मिलान करें:

"इसके ऊपर आचार्य वीरसेन ने धवला नाम की टीका ×× बनाई थी। आज इस सिद्धान्त शास्त्र को भी धवल इस नाम से प्रसिद्धि है। लोक-प्रसिद्धि वश मैंने इस लेख में 'जीवट्ठाण सिद्धान्त' को 'धवल सिद्धान्त' नाम से उल्लेख किया ॥"

इतनी अधिक शब्दों की समानता के होते हुए भी मुख्तार सा० ने मेरे लिए अपने लेख में जो कुछ लिखा है वह कहां तक ठीक है, यह पाठक गण स्वयं ही निर्णय कर लेवें।

मुख्तार सा० का तीसरा ऐतराज मेरे निम्न वाक्य पर है:-

"इनका (भूतबलि और पुष्पदन्त का) समय भगवान् महावीर के निर्वाण के ~~से~~ लगभग ६०० वर्ष बाद का है"।

मुख्तार सा० का कहना है कि ६०० ~~वर्ष~~ के स्थान पर ७०० होना चाहिए क्योंकि जिस धवल सिद्धान्त के आधार पर आप लिख रहे हैं, उसमें वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष के बाद धरसेनाचार्य का होना लिखा है, आदि ॥

इस पर मेरा कहना यह है कि मैंने यह कहां और कब लिखा है कि ६०० वर्ष का उल्लेख मैं धवल सिद्धान्त से कर रहा हूं, जिसे आप जबर्दस्ती मेरे सिर पर मढ़ रहे हैं। और तिल का ताड़ बना रहे हैं। पहले आप अपनी लेखनी से लिखे गये 'समन्तभद्र' के 'समय-निर्णय' शीर्षक अध्याय को ही देख जाइए, जिसमें कि ६८३ वर्ष बाद धरसेनाचार्य के होने में कितनी ही आपत्तियां आपने दिखाई हैं। और— उसके ठीक १२ बारह वर्ष बाद लिखे गये आपके 'श्रुतावतार कथा' नामक लेख को देख जाइए जो कि —

इसी जैन सिद्धान्त भास्कर के भाग ३ की किरण ४ में अग्रलेख के रूप से प्रकाशित हुआ है। उस लेख के उपान्त्य पैराग्राफ में आपने लिखा है कि :—

"धवला और जयधवला में गौतम स्वामी से आचारांग-धारी लोहाचार्य तक के श्रुतधर आचार्यों की एक गणना करके और उनकी एक काल-गणना ६८३ वर्ष की देकर उसके बाद धरसेन तथा गुणधर आचार्यों का उल्लेख किया गया है ×× और इस तरह इन दोनों आचार्यों का समय वीरनिर्वाण से ६८३ वर्ष बाद का सूचित किया है। यह सूचना ऐतिहासिक दृष्टि से कहां तक ठीक है, अथवा कितनी आपत्ति के योग्य है, उसके विचार का यहां अवसर नहीं है। फिर भी इतना ज़रूर कह देना होगा कि मूलग्रन्थों को देखते हुए टीकाकार का यह सूचन बहुत कुछ त्रुटिपूर्ण एवं स्खलित सा लिए हुए जान पड़ता है। जिसका स्पष्टीकरण विशेष-तैयारी के साथ कुछ समय बाद किया जाने को है।" इत्यादि।

इस उद्धरण से बिलकुल स्पष्ट है ६८३ वर्ष बाद धरसेनादि आचार्यों का समय मानने में आपको ज़बरदस्त आपत्ति है आगे-चल कर आप स्वयं ही सिद्ध करेंगे कि वे वी० नि० ६०० से भी पूर्व हुए हैं। [illegible] ६०० के स्थान पर ७०० वर्ष। आश्चर्य तो इस बात का है कि [illegible] 'लगभग' शब्द पर उनका ध्यान तक नहीं गया! इसके बाद भी आपका लिखना है कि 'अन्यथा किसी दूसरे प्रमाण का साथ में स्पष्ट उल्लेख करना चाहिए'। मैं कोई समय निर्णय के लिए तो लेख लिखने बैठा नहीं था, जिससे कि उसमें प्रमाण उपस्थित करता। जो मेरे लेख का उद्देश्य था, उसके लिए प्रमाण उपस्थित किये ही हैं। फिर भी आपकी आज्ञानुसार एक हल्का सा प्रमाण फिलहाल उपस्थित करे ही देता हूं, जिसे स्वयं आपने 'प्रवचनसार का नया संस्करण' शीर्षक लेख द्वारा जैन सिद्धान्त भास्कर भाग ४ की किरण १ में प्रकाशित कराया है। वह प्रमाण इस प्रकार है:—

"×× जोणि पाहुड तो दिगम्बर ग्रन्थ है ही। उक्त ग्रन्थावली में उसे धरसेनाचार्य कृत लिखा है, जो कि एक दिगम्बराचार्य हुए हैं और उसी के पुष्ट करने के लिए बृहट्टिप्पणी का यह वाक्य भी उद्धृत किया है

"योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्"

इस ग्रन्थ की जो जीर्ण-शीर्ण एवं खंडित प्रति पूना के भंडारकर इन्स्टिट्यूट में मौजूद है और जिसे देखकर पं० बेचरदासजी ने एक नोट लिखा था, उससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ-

'पण्हसवण' (प्रश्नश्रवण) मुनि के द्वारा पुष्पदन्त और भूतबलि शिष्यों के लिए लिखा गया है" ~~आदि~~ —

"इय पण्हसवण इइए भूयबली पुप्फयंत आलिहिए" इत्यादि वाक्यों पर से उसका समर्थन होता है। चूंकि भूतबली और पुष्पदन्त के गुरु का प्रसिद्ध नाम 'धरसेन' था, इसी से शायद वृहट्टिप्पणी में प्रश्नश्रवण की जगह 'धरसेन' नाम का उल्लेख किया जान पड़ता है" आदि।

इस उद्धरण में वीर निर्वाण से 600 वर्ष बाद धरसेन आचार्य के होने का स्पष्ट उल्लेख है। इसके सिवाय और भी कई एक प्रमाण हैं, जिनका यहां अभी अवसर नहीं है। समय आने पर जब प्रकाश में ~~[illegible]~~ आजावेंगे।

अन्त में एक आवश्यक बात कहकर इस लेख को बन्द करता हूं, वह यह— कि अभी तक मुझे स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं थी कि मेरे जैसे अज्ञान एवं टूटे-फूटे शब्द लिखने वाले नवीन लेखक को या लेखनशालो की शिशु कक्षा के अभ्यासी को — आचार्य कक्षा के अध्यापक जैसे प्रौढ़ लेखक मुख्तार सा० ऐसा उच्च सम्मान प्रदान कर और मेरी पंक्तियां जांच कर मुझे आगे बढ़ने का सुअवसर देंगे।

अब मैं श्री० मुख्तार सा० की इस आज्ञा को कि "भावी-जो भविष्य में विशेष सावधानी से काम लें xx जिससे उनकी लेखनी अधिकाधिक सावधान होकर उन्नत-पुष्ट एवं निर्भ्रान्त साहित्य तय्यार करने में समर्थ हो सके" शिरोधार्य करता हुआ अनियत काल के लिए लेखनी को एकदम बन्द करता हूं और उन सब पत्रसम्पादकों से विनम्र प्रार्थना करता हूं, जिनके कि आये दिन लेख भेज देने के लिए पत्र आया करते हैं — कि वे अपने अमूल्य समय, शक्ति एवं धन को व्यय कर मेरे पास लेख भेजने के लिए अनुनय-विनय से भरे हुए प्रार्थना-पत्र न भेजा करें।

अन्त में श्री मुख्तार सा० को इस समुचित चेतावनी के उपलक्ष में कोटिशः धन्यवाद देकर अनियत काल के लिए अपनी लेखनी को विश्राम देता हूं।

—०—

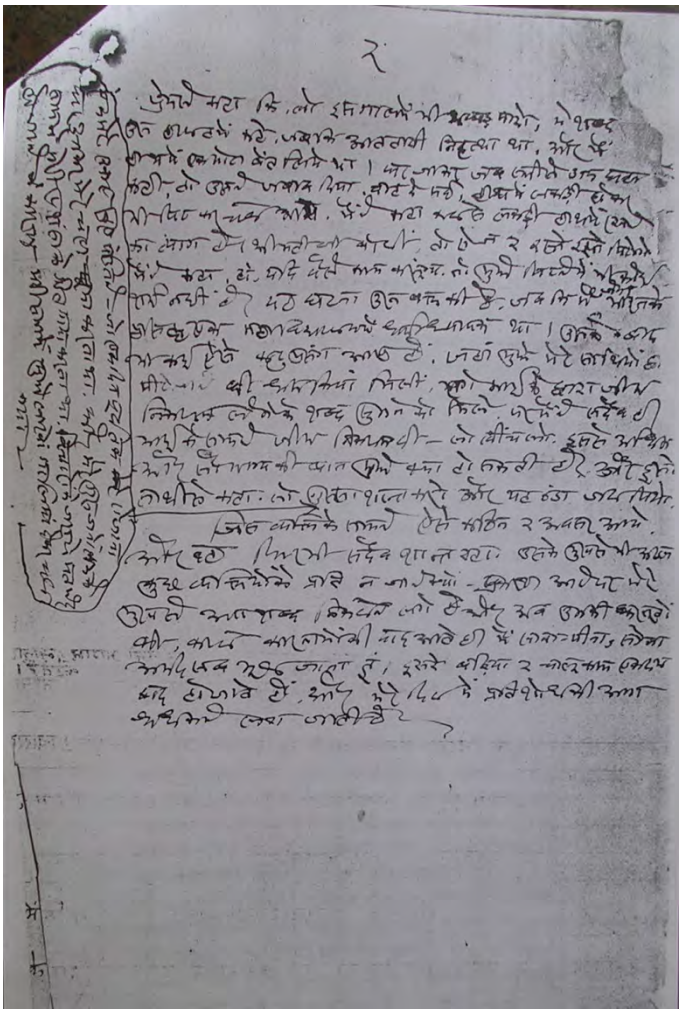

क्या मैं ~~[illegible]~~ का॰ गह॰ आदि का छात्र हूं ? ७

जैन मित्र के इसी वर्ष के तीसरे अंक में पं॰ कैलाशचन्द्र जी बनारस ने मेरे नाम एक खुली चिट्ठी प्रकाशित की थी, जिसका सप्रमाण सत्य खुलासा तुरंत ही मैंने सम्पादक जैन मित्र के पास भेज दिया था — परन्तु शीतलप्रसाद जी [illegible] लालबाजी ने उसे प्रकाशित न कर उसका बनावटी एवं अधूरा सार जैन मित्र के ५वें अंक में दिया। इस सार में जो बातें सप्रमाण रूप से उल्लेखनीय थीं, उन सब को तो आप एकदम ही उड़ा गए हैं — और एक ऐसा उल्टा-नोट लिख मारा है, जिससे व्यर्थ में हमें पुनः लिखने के लिए बाध्य होना पड़ा है।

मैंने तो खुली चिट्ठी के एक शब्द पर — "कि यह आपने खूब बे सिर-पैर की उड़ाई है" यह लिखा था, कि मैंने तो कुछ लिखा है वह सत्य, द्रव्य, श्रुत एवं अनुभव ही लिखा है. किन्तु बे सिर-पैर की तो आप या आपके विद्यालय वाले उड़ाया करते हैं, और उदाहरण स्वरूप मैंने उन्हीं के विद्यालय की वार्षिक रिपोर्ट का एक अंश लेकर यह दिखाया, कि विद्यालय से निकलने वाले योग्यता प्राप्त छात्रों में मेरा भी नाम दिया गया है, और तारीफ तो यह, कि मेरे नाम नाम के आगे ✻ ऐसा निशान लगाकर नोट में लिखते हैं, कि इन्होंने "धर्मशास्त्र तो पढ़ा है, परन्तु परीक्षा नहीं दी है" इस नोट पर मैंने खुली चिट्ठी के उत्तर में लिखा था — कि वाह! खूब रही, मुझे ही मेरे समय का मेरा विद्यार्थी बना दिया गया!!! क्या बनारस विद्यालय के कार्यकर्ता गण बतावेंगे — कि मैंने कब से कब तक रहकर किस धर्माध्यापक से धर्मशास्त्र के कौन कौन से ग्रन्थ पढ़े थे? आदि

इस पर उक्त शब्दों को हीन लिख कर श्री॰ शीतलप्रसाद जी अंक ५ के नोट लेख के सार में लिखते हैं, कि "पं॰ हीरालालजी लिखते हैं कि योग्यता प्राप्त विद्यार्थियों के छात्रों में मेरा भी नाम है तो मैंने कभी अध्ययन नहीं किया है, किन्तु अध्यापकी की है। हमने भी ५०वें वर्ष की ताजी रिपोर्ट देखी, तो उसमें नं॰ २ पर एक पं॰ हीरालाल हैं, जिन्होंने धर्मशास्त्र में बम्बई में परीक्षा दी थी, न वे धर्माध्यापक उज्जैन में हैं। आदि"

मेरे सामने वह रिपोर्ट नहीं है, किन्तु यदि आपके लिखे को ही सत्य मान लें — तो और भी मजेदार बे सिर-पैर की उड़ाई कहना चाहिए, क्योंकि अभी तक तो कम से कम यही लिखा जाता था, कि परीक्षा नहीं दी, और अब यह भी लिखने लगे कि धर्मशास्त्र में परीक्षा भी दी"

हां, तो इसी के अन्त में नोट था, कि बनारस विद्यालय के

सुपरिन्टेण्डेण्ट करेंगे " अस्तु। इतने दिनों तक मैं इस प्रतीक्षा में था, कि बनारस विद्यालय के सुपरि० साहब इसका क्या खुलासा करते हैं, सो हाल ही के जैनमित्र अंक 10 के 158 पृष्ठ पर " पं० हीरालाल जी शास्त्री स्या० विद्यालय काशी के व्याख्यान " इन मोटे शब्दों द्वारा एक निवेदन प्रकट हुई है, जिसमें स्या० वि० के सुपरि० साहब लिखते हैं " कि पं० हीरालाल जी ऐसा लिखते हैं, कि मैंने काशी विद्यालय में नहीं पढ़ा सो यह बात ठीक नहीं है " वे स्वयं जैनमित्र ता० 15-8-32 पृ० 664 में लिखते हैं कि मुझे स्वयं जो साहित्य पढ़ने का यहां पर (स्या० महा०) में कुछ अनुभव हुआ वह पाठकों के सन्मुख रखता हूं। अवकाश रहने के कारण मैं भी साहित्य प्राय: सभी छात्र २ पाठ पढ़ने लगा था। जुलाई 1924 में वे विद्यालय में पढ़ने आए थे। कुछ दिनों पीछे धर्माध्यापक की आवश्यकता के कारण उनके स्थान पर उनको नियुक्त किया गया था। जब वे विद्यालय में कुछ काल पढ़े हैं, तब यह प्रश्न उठाना लिखना अनुचित नहीं है।" आदि ॥

निष्कर्ष —

यहां तीन बातें खास तौर से विचारणीय हैं - १-मैंने अपने प्रतिवाद में क्या लिखा था। २-शीतल प्रसाद जी ने क्या जोर दिया। ३- और सुप्रि० स्या० वि० काशी ने क्या ~~...~~ कि उत्तर दिया।

पाठक उक्त कथन से स्पष्ट समझ गए होंगे- कि मेरे किस प्रश्न का क्या उत्तर दिया गया है? मैंने तो पूछा था, कि रिपोर्ट में जो मेरे नाम के आगे फूल का चिन्ह बनाकर धर्मशास्त्र के पढ़ने व परीक्षा नहीं देने का उल्लेख है, तो क्या बनारस विद्यालय के कार्यकर्तागण बतायेंगे मैंने कब से कब तक रहकर किस धर्माध्यापक से धर्मशास्त्र के कौन २ से ग्रन्थ पढ़े थे? और सुपरि० सा० उत्तर दे रहे हैं, कि साहित्य पढ़ा! क्या गजब का उत्तर है। मालूम होता है, आप किसी नशे की तरंग में मस्त होकर ही विद्यालय का काम किया करते हैं? अन्यथा आपको इतना भी पता नहीं, कि पूंछा क्या जा रहा है, और उत्तर क्या दे रहे हैं? और तारीफ की बात तो यह - कि रिपोर्ट भी आप ही करते हैं - जरा उन्हें ही उठा कर देख लेते तो। अस्तु।

यदि आपका यही मत हो, कि अपने यहां पर साहित्य पढ़ाई है इसलिए आप विद्यालय के स्नातक हैं, तो महाशय जी इतने दिनों तक कौन से नशे की मेहोशी की नींद में पड़े थे जो तार प्रतिवर्ष की रिपोर्टों में मेरे नाम के आगे धर्मशास्त्र के न पढ़ने का उल्लेख होता रहा। सच्ची बात तो यह है कि आपको इतना भी पता न था, कि मैंने बनारस में रहकर साहित्य पढ़ा है। यह

भी तो उन्हें मेरे ही लिखे हुए लेख से मालूम हुई।

अस्तु। मेरे प्रश्न को भी दूर रख दिया जाय, आजतक की सभी रिपोर्टों को भी असत्य मान लिया जाय; तो भी जरा यह भी तो बताने का कष्ट उठाते कि धर्माध्यापक नियुक्त होने के पहिले मैंने कितने दिनों तक साहित्य का अध्ययन किया, जिससे मैं सा० म० का यत्किंचित छात्र माना जा सकूं। सत्य बात तो यह है, कि आप यद्यपि सुपरिं० हैं तो भी यथार्थ परिस्थिति का आपको कुछ भी ज्ञान नहीं है या है – तो उस सत्य को छिपा कर केवल नकली ढोंग ही समाज को दिखाना चाहते हैं – जैसा कि आपकी आजतक की हरकतों से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है।

आप अब भी सत्य बात समाज के सामने नहीं रखेंगे क्योंकि आपको अपने कारनामों के भंडाफोड़ होने का डर है। इसलिए मैं स्वयं ही लिख देना चाहता हूं, कि सुपरिं० स्या० म० काशी अब अपनी डायरी में नोट कर लें — मैं १४ जुलाई सन १९२४ को बनारस पहुंचा था, और १७ जुलाई से अर्थात तीन दिन के बाद ही से धर्माध्यापक का कार्य प्रारंभ किया था। ता० १९ को नवम्बर सन २४ की रात को ११ बजे मेरे भाई की सख्त बीमारी का तार मिला – और मैं छुट्टी के लिए अर्जी मय तार के देकर तुरंत ही १२ बजे रात को आगरा एक्सप्रेस से देश चला आया – किन्तु भाई के स्वर्गवास हो जाने से पुनः बनारस न जा सका। जिससे १९ नवम्बर को चले आने पर भी १७ नवम्बर तक की वेतन मुझे पूर्ण मासिक के हिसाब से ४५) रु० मिले जो कि आपकी लेजर में आज भी लिखे होंगे। वेतन मुझे १७ जुलाई से ही मिलना प्रारंभ हुआ था। अब कृपया आप ही बताइए – कि मैंने पहुंचने के प्रारंभिक तीन – केवल तीन ही दिनों में आपके विद्यालय के अध्यापकों से दो-२ से साहित्य के पाठ पढ़ लिए। जिससे मैं आपके विद्यालय का भूतपूर्व छात्र माना जा सकूं।

पाठकों को विदित हो, कि धर्माध्यापकी का प्रारंभ करने के कुछ दिनों बाद ही मैंने साहित्य पढ़ना प्रारंभ किया था — जिसे मैंने आज से ४ मास पूर्व के ता० १०-८-३३ के अंक (३४वें) पृष्ठ ४ के दूसरे पैराग्राफ के अन्त में स्पष्ट किया है – वे शब्द यह हैं: "— अक्तूबर के प्रारंभ में ही साहित्यदर्पणादि पढ़ना प्रारंभ किया था"।

तारीफ की बात तो देखें कि इसी ही पैराग्राफ के कुछ अंश को लेकर आप धर्माध्यापक होने के पूर्व अध्ययन करते हुए बताने का दुःसाहस करते हैं। किन्तु उसी पैराग्राफ के अन्तिम शब्दों को देखने का, या देखकर भी बेहोशी में नहीं लिखने या उन्हें उड़ा जाने का – छिपाने का – व्यर्थ ही प्रयास कर रहे हैं।

अस्तु — इन अध्यापक सत्य बातों को भी छोड़ कर और आपके ही लेखानुसार अध्यापक नियुक्त होने के पूर्व पढ़ने से स्नातकोत्तर माना जाता है और अनुचित न माना जाय, तब तो बड़ी ही मजेदार बात होगी — क्योंकि जो कोई भी गली 2-3 दिन विद्यालय में रहे और थोड़ी किसी अध्यापक के पास जा बैठे — तब तो आपके नियमानुसार वह भी आपके विद्यालय का स्नातकोत्तर छात्र हो जायगा। यदि ऐसा नहीं, तो केवल तीन ही दिन कार्यालय परीक्षा के पूर्व विद्यालय में रहने के आरम्भ से ही क्यों कुछ विद्यालय के स्नातकोत्तर छात्र मानने का उल्लेख किया जाता।

आपकी रिपोर्ट को देखने से पता चलता है कि अधिकांश इसी प्रकार से ही अनेकों विद्वानों के नाम रिपोर्ट में भरे पड़े हैं। दी गई नामावली में मुश्किल से आधे ही विद्वान ऐसे निकलेंगे जिन्होंने 2-4 वर्ष रहकर आपके विद्यालय में पढ़ा हो। अन्यथा आधे तो कम से कम ऐसे हैं ही, जिन्होंने मुश्किल से 1 वर्ष भी पूरा नहीं पढ़ा, और आपने उन्हें अपने यहां से योग्यता प्राप्त करके निकला हुआ विद्वान रिपोर्ट में प्रगट कर दिया। कुछ नाम तो ऐसे हैं कि जिन्होंने 2-4 मास भी अधिक से अधिक नहीं पढ़ा, और आप के विद्यालय से योग्यता प्राप्त विद्वान कहलाने लगा।

पाठक पूछेंगे — तो कि निकलने वाले नामों में से आज तक किसी ने विरोध क्यों नहीं किया। तो इसका बिलकुल सत्य उत्तर यही है, कि संस्कृत विद्या के लिए बनारस का नाम सर्व प्रथम है। इसी से सब साधारण लोग बनारस में संस्कृत पढ़े हुए विद्वान को गौरव की दृष्टि से देखती हैं। जब कुछ दिनों के पढ़ने से ही "बनारस में पढ़े हैं" ऐसा प्रमाण-पत्र मिल जावे, तो किन लोगों को प्रतिवाद की ही क्या आवश्यकता पड़ी। दूसरी बात यह भी है कि अधिकांश विद्वानों के हाथों यह निकलने वाली रिपोर्ट पहुंचती भी नहीं। स्वयं मुझे ही आज तक 4 वर्षों के बाद यह रिपोर्ट देखने को मिली थी। सो मैंने बनारस में पठनक्रम को नियम के लिए जब दुबारा जाने वाला ही इसका निर्देश वहां उपस्थित कार्यकर्ताओं से कर दिया था, कि रिपोर्ट में जो मेरा झूठा नाम निकल रहा है, वह आगे न प्रकाशित किया जावे। इतने पर भी जब यह बात दूर नहीं हुई, तब मुझे प्रकाशक श्रुति [illegible] चिट्ठी के उत्तर में उल्लेख करना पड़ा। अन्यथा आज भी [illegible] यथार्थ बात लिखने का मौका न आता। [illegible]

आशा है, पाठक समझ गए होंगे — कि मैं [illegible] कहना चाहता हूं।

सादूमल

माननीय डॉक्टर साहब, ... ता० २२-५-५२

आपका ता० १४ मई का लिखा कृपापत्र यथासमय मिला हुआ था। आपने इसके साथ जो मेरे प्रति सहानुभूति और उत्साहना प्रकट की, उसके लिए मैं आभारी हूं। आपके इन शब्दोंने मुझे बहुत कुछ बल बंधाया और लिखनेके लिए उत्साह और साहसका संचार किया है। [illegible] मैं पूर्ण आशा करता हूं कि आपकी विषम एवं गहन एवं जटिल परिस्थितियोंसे शीघ्र उन्मुक्त हो सकेंगे।

सहकालके विषयमें मुझे बतलाने से अब तक कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है। ज्ञानपीठने प्रकाशित किया है, इसबाबत ~~[illegible]~~। हां, प्रो० हीरालालजीने जिसका भी काफी ~~अवश्य~~ लिखी है, जो कि उन्होंने सहकालके विषयमें आपने और आपके अभिप्रायके साथ श्री गोयलजीको भेजा है। आप दोनोंने जो ~~[illegible]~~ अनुमान एवं संशोधन उनमें बताये हैं, तदनुसार मैं उन्हें प्रेसमें देनेके पूर्व भलीभांति जांच कर दूंगा।

धवला और जयधवलाके सूत्र और गाथा सूत्रोंके विवेचनकी शैलीके बाबत जो आपने पूछा, और जिस बातको जाननेकी इच्छा व्यक्त की, उसके बाबत स्पष्टीकरण इस प्रकार है:

१ मैंने धवला (षट्खंडागम) के मूल छहखंडात्मक सूत्रोंको पृथक् छांट करके मूलको भली-भांति समझा जा सके, इस रीतिसे उनका हिन्दी अनुवाद किया है। अर्थात् जिस प्रकार प्रकाशित धवलामें ~~[illegible]~~ मूलसूत्रोंका शब्दशः हिन्दी अनुवाद किया गया है, ठीक वही और उसी प्रकारका मैंने ~~अपनी~~ भी किया है। केवल मूलके ~~[illegible]~~ भावको अच्छी भांति समझानेके लिए प्रत्येक सूत्रके प्रारम्भमें एक-एक प्रासंगिक और मध्यमें कठिन स्थलों पर विशेषार्थ दिया है। इस बातका उचित ध्यान रखा गया है कि अनावश्यक विस्तार न हो और मूलके भावको व्यक्त करने वाली कोई बात छूट न जाय।

२ ~~[illegible]~~ जयधवला (कसायपाहुड) की मूलगाथाएं यद्यपि गहन हैं, ~~[illegible]~~ और मूलके समान ही चूर्णिसूत्र भी ~~[illegible]~~ [illegible] दोनोंके पूर्ण भावको व्यक्त करनेका मैंने [illegible] प्रयत्न किया है। इसका अनुवाद धवला-सूत्रोंके अनुवादकी अपेक्षा कुछ

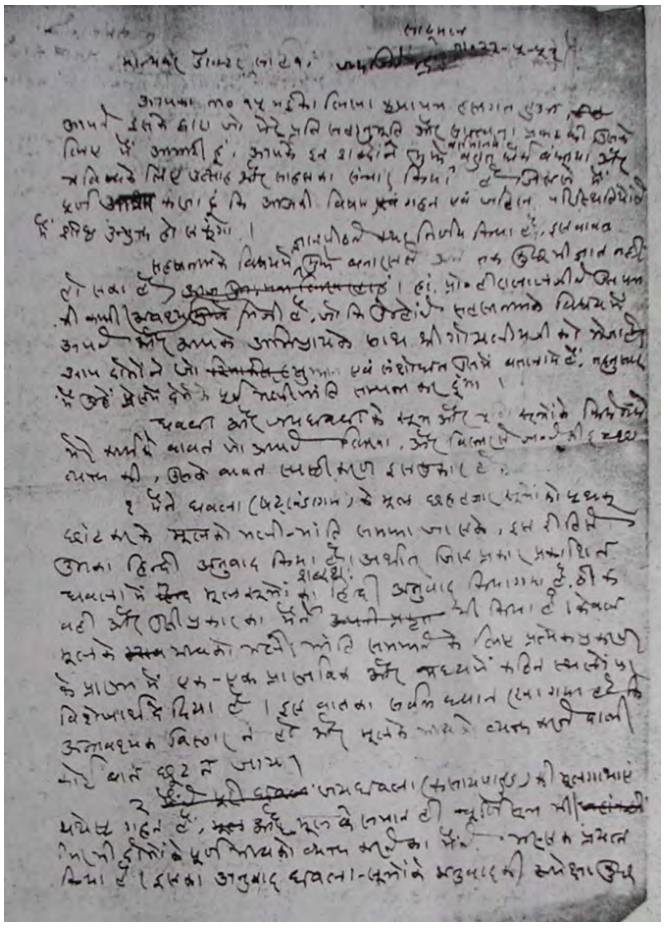

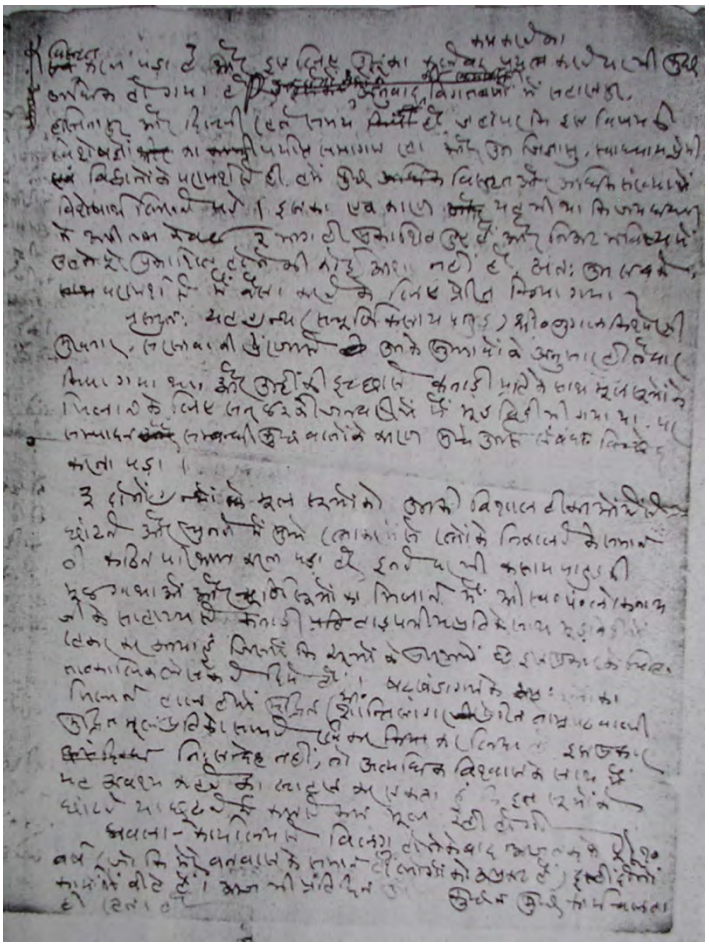

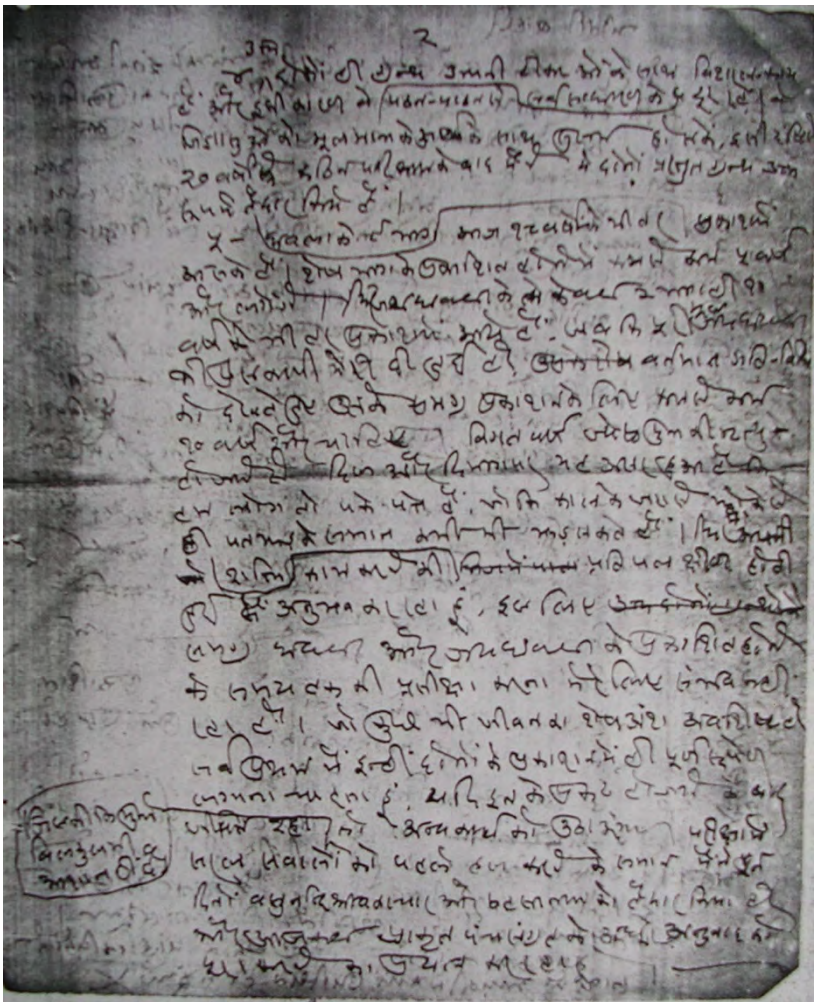

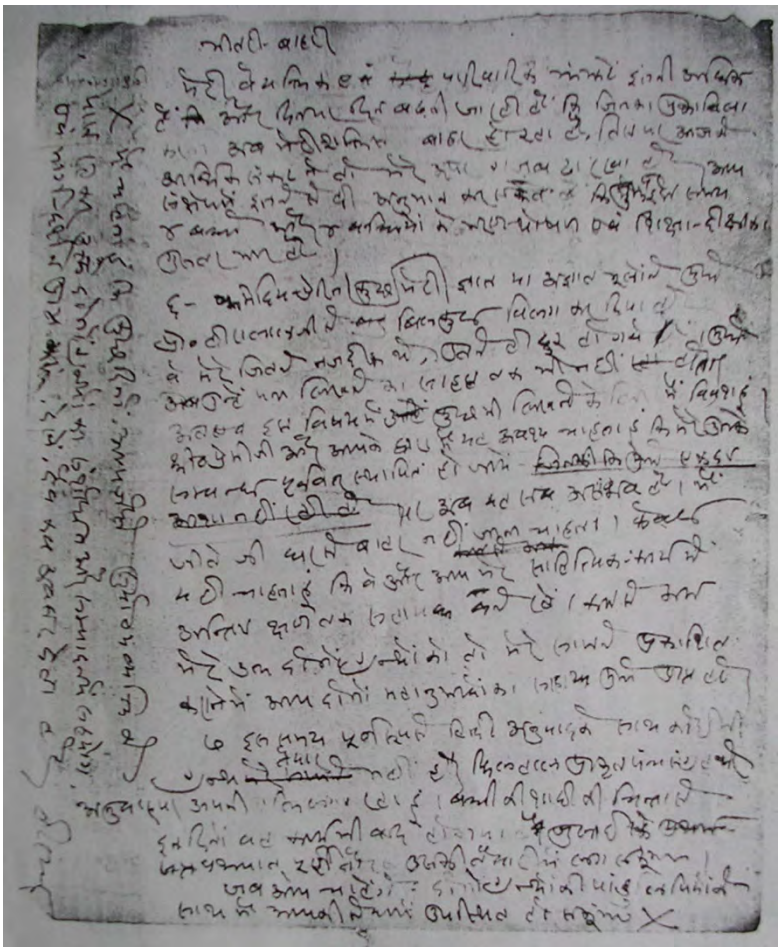

भारतीय ज्ञान पीठ

दुर्गा कुण्ड बनारस ४

मंत्री
अयोध्याप्रसाद गोयलीय

डालमियानगर (बिहार)
ता० १९।१।५२ १९५

श्रीयुत पं० हीरालालजी,

आपकी अभिलाषा थी कि ज्ञानपीठ के संपादन का कोई कार्य आपको इस तरह का दिया जाए, जिसे आप घर बैठ कर सुगमता पूर्वक कर सकें। मेरी इच्छा है कि महाबंध के शेष भाग शीघ्र-से-शीघ्र प्रकाशित कर दिए जाँय, क्या आप इस कार्य को हाथमें लेना पसन्द करेंगे?

यदि आप इसके लिये प्रस्तुत हों तो प्रत्येक खण्ड मुद्रण योग्य स्थिति में मय प्रस्तावना आदि के आप कितनी अवधि में दे सकेंगे और संपादन के लिये आप प्रति कहां से स्वयं मंगा सकेंगे / [illegible] की जिम्मेवारी आपकी रहेगी। कृपया विस्तार पूर्वक लिखें ताकि संचालक समिति से इस संबंध में निर्णय ले सकूँ।

'वसुनन्दि श्रावकाचार' प्रेस में है, क्या आप १५-२० रोज बनारस रह कर उसे अपने सामने नहीं छपवा सकेंगे? यदि आप आ जाँय तो ग्रंथ सुन्दर, शुद्ध और शीघ्र छप जायगा।

आपका-
अ.प्र. गोयलीय

[illegible]
२४-१-५२

श्रीमान् गोयलीय जी,

आपका १९-१ का कृपा पत्र मिला. आपने मुझे इस काम में याद किया, इसके लिए धन्यवाद है. और जिस कार्य के लिए आपने संकेत किया है, उसके विषय में मेरा निवेदन इस प्रकार है —

[illegible] की [illegible] और अर्थ की दुरूहता को देखते हुए यद्यपि [illegible] नहीं करना चाहिए, तथापि [illegible] जितना [illegible] है, उसे देखते हुए [illegible] महाबन्ध को छपना और होगा. जितने [illegible] वर्ष लगेंगे। [illegible] एक भाग के [illegible] एक वर्ष।

यदि ज्ञानपीठ महाबन्ध का सम्पादन कार्य मुझे सौंपने को तैयार है, तो मैं [illegible] उसे स्वीकार करने को भी तैयार हूं,

सम्पादनार्थ प्रति के मंगाने का प्रश्न [illegible] अतिरिक्त अन्यत्र प्रति है नहीं, उसके लिए या तो वहीं जाकर प्रतिलिपि करना पड़ेगी, या वहां के पंडितों से [illegible] पड़ेगी। इसके अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं। पं. [illegible] अपनी कापी दे देंगे ऐसी आशा नहीं है. आज मैं ऐसी स्थिति में नहीं हूं कि [illegible] के प्रति [illegible] कर सकूं। X

X: अतएव यदि ज्ञानपीठ इस दिशा में आर्थिक [illegible] दे सके तो [illegible] [illegible] नहीं।